''ठंडो पाणी मेरा पहाड़ मा, न जा स्वामी परदेसा''

ढौण्ड गाँव के पंचायत भवन में छोटी–छोटी लड़कियाँ नाच रही थी और उनके गीत के ये बोल सामने बैठे पूरे गाँव को बरसात की झडी में भी बांधे हुए थे। भीगते दर्शकों में ऐसी कई युवा और अधेड महिलाएँ थीं, जिनके पति और बेटे अपने जीवन के कई बसंत ''परदेस'' में ही बिता रहे हैं, ऐसे वृद्ध भी इस कार्यक्रम को देख रहे थे, जिनने अपने जीवन का बडा भाग ''परदेस'' की सेवा में लगाया है। और भीगी दरी पर वे छोटे–बच्चे–बच्चियां भी थी, जिन्हें शायद कल परदेस चले जाना है।

एक गीत पहाडों के इन गाँवों से लोगों का पलायन भला कैसे रोक पाएगा?

लेकिन गीत गाने वाली टुकडी गीत गाती जाती है। आज ढौण्ड गाँव में है तो कल डुलमोट गाँव में। फिर जन्दिया में, भरनों में, उफरैंचखाल में। यह केवल सांस्कृतिक आयोजन नहीं है। इसमें कुछ गायक हैं, नर्तक है, एक हारमोनियम, ढोलक है तो सैकडों कुदाल–फावडे भी हैं जो हर गाँव में कुछ ऐसा काम कर रहे हैं कि वहां बरसकर तेजी से बह जाने वाला पानी वहां कुछ थम सके, तेजी से बह जाने वाली मिट्टी वहीं रूक सके और इन गाँवों में उजड़ गए वन, उजड़ गई खेती फिर से संवर सके। आधुनिक विकास की नीतियों ने यहां के जीवन की जिस लय को, संगीत को बेसुरा किया है, उसे फिर से सुरीला बनाने वालों की टोली है यह दूधातोली की।

पौड़ी गढ़वाल के दूधातोली क्षेत्र के उफरेखाल में आज से कोई 21 बरस पहले प्रारंभ हुई छोटी सी यह टोली आज यहां के 136 गाँवो में फैल गई है और इस क्षेत्र में अपने काम को खुद करने का, वातावरण बना रही है। अपने काम में हैं अपने वन, अपना पानी, अपना चारा, अपना ईधन और अपना माथा, स्वाभिमान।

इस टोली के विनम्र नायक है शिक्षक सच्चिदानंद भारती। वे उफरैंखाल के इंटर कालेज में पढ़ाते हैं। सन 1979 में वे चमोली जिले के गोपेश्वर महाविद्यालय में पढ़ रहे थे। उसी दौर में वहां प्रसिद्ध चिपको आंदोलन ने जन्म लिया था। भारती ने अपनी कालेज की पढ़ाई के अलावा उस दौर में एक सजग छात्र के नाते पहाड़ के जीवन के पर्यावरण की पढ़ाई में भी पूरी निष्ठा से रूचि ली थी। वे चिपको आंदोलन के जनक श्री चंडीप्रसाद भट्ट के साथ आंदोलन के कई मोर्चो पर लड़े भी थे और बाद में उसके रचनात्मक पक्ष में भी सक्रिय रहे थे। संधर्ष और रचना का संयुक्त पाठ उन्होंने वहीं से सीखा था। वनों को कटने से बचाने के साथ–साथ नए वन लगाने के लिए उन्होंने ''डाल्यों का दग्ड़या'' वृक्ष मित्र नामक संगठन भी बनाया था।

सन् 1979 में अपनी पढ़ाई पूरी कर वे पौड़ी जिले के अपने गाँव गाडखर्क, उफरैंखाल लौटे थे। उन्हीं दिनों उन्हें गाँव में खबर मिली कि उत्तराखंड के मध्य में स्थित दूधातोली क्षेत्र में वन निगम फर–रागा के पेड़ों का कटान कर रहा है। हिमालय में रागा प्रजापति भोजवृक्ष की तरह ही धीरे–धीरे लुप्त होती जा रही है। जो पुराने पड़ते जा रहे हैं और नए पौधे पनपने चाहिए, वे भी नहीं पनप पा रहे हैं।

श्री भारती को लगा कि इस कटान को तो हर कीमत पर रोकना चाहिए। वे अपने कुछ साथियों के साथ दूधापोली वन क्षेत्र से जुड़े गाँवों की ओर चल पड़े। दैड़ा, सुंदरगाँव, चौन्डा, देवराड़ी, कफलेख, पीरसैण, सोन्दर, घूंरी, रणगाँव, पातल ब्यासी, भरोड़ा आदि गाँवो में पदयात्रा के माध्यम से जगह–जगह लोगों को यह समझाने की कोशिश की गई कि यह वन सरकार का जरूर है पर इसके कटान का, इसके विनाश का पहला बुरा झटका इन्हीं गाँवो को भोगना पड़ेगा। यह वन भले ही हमारा न हो पर विनाश हमारा ही होगा। सब लोग साथ दें तो इस विनाश को रोका जा सकता हैं। इन्हीं बैठकों में से यह भी बात सामने आई कि वन सरकार का है पर इस पर पहला हक तो उसके पास बसे गाँवों का ही होना चाहिए।

लोगों की जागृति का, एक जुट होने का यह किस्सा काफी पुराना हैं, यहाँ उसे दुहराना आवश्यक नहीं है। बस इतना ही बता देना काफी है कि कई बार अच्छे ढंग से रखी गई बात, पक्ष को, सरकार और उसके अधिकारी भी समझ लेते हैं और हमेशा संघर्ष टकराव का रास्ता लेना जरुरी नहीं होता। दूधातोली में यहीं हुआ।

दूधातोली में जगह–जगह सधन पदयात्राओं, बैठकों आदि का प्रभाव पड़ा। एक वन अधिकारी ने इस समस्या को समझने के लिए लोगों के साथ विवादित वन क्षेत्र का दौरा किया। फिर दैड़ा गाँव में सब गाँवों के साथ हुई बैठक में इस कटान को पूरी तरह रोक देने की घोषणा कर दी गई। सत्य के आग्रह को सरकार ने स्वीकार किया।

ऐसी घटना उस क्षेत्र के लिए नई ही थी। इससे दो बातें निकलीं – एक तो यह कि लोग एक हो जाएं तो सरकार के गलत कामों, निर्णयों को भी रोका जा सकता है, बदला जा सकता है। और दूसरी यह कि अब जब एक बड़े विनाश को रोक ही लिया गया है तो फिर इसी स्थान से वनों के संवर्धन का काम क्यों न शुरू किया जाए।

एक पर्यावरण शिबिर रखा गया। आसपास के गाँवों और कुछ दूर के समानधर्मी लोगों को उफरैंखाल आने का न्योता दिया गया। वहाँ पहला पर्यावरण शिबिर रखा गया।

सड़को से बहुत दूर छोटा सा गाँव, हाथ में न कोई साधन, न कोई संपर्क। शिबिर तो रख लिया पर इसके लिए पैसा चाहिए था। भोजन आदि पर कुछ तो खर्च होगा ही। किससे पूछें, किससे मांगे? नई दिल्ली के गांधी शांति प्रतिष्ठान को पत्र लिखा। एक हजार रुपए वहाँ से आए।

इस तरह जुलाई 1980 में दूधातोली क्षेत्र में पहला पर्यावरण शिबिर सम्पन्न हुआ। लोगों ने अपने–अपने क्षेत्र की परिस्थिति, वनों की स्थिति, कहाँ क्या कितना उजड़ गया है आदि बातें एक दूसरे के सामने रखीं। जो घटनाए चुपचाप घट रही थीं उनका मौन टूटा। शिबिर के अंत में सबने पास के वन क्षेत्र में जाकर मोरपंखी और पामुलर के पौधों का रोपण किया।

दूधातोली क्षेत्र में पहले शिबिर का एक नए विचार का पौधा लगा इस तरह। तब इस विचार को रोपने वाले हाथों को भी पता नहीं था कि आगे चलकर यह इस क्षेत्र के ठीक विकास का एक मजबूत वृक्ष बन जाएगा और इसकी घनी छाया में कई और विचार पनपते जाएगे।

फिर सन् 1981 में जून माह में इसी क्षेत्र में एक पदयात्रा निकाली गई। यह एक पखवाडे तक चली। पदयात्राएँ तो कई जगह निकलती हैं पर यह पदयात्रा अपने यात्रियों के कारण कुछ अनूठी ही थी। इसमें उफरैंखाल इंटर कॉलेज के प्रधानाचार्य श्री महेशानंद ढोण्डियाल शामिल थे, तो वहीं के चौकीदार श्री बुद्धसिंह रावत, शिक्षक सच्चिदानंद भारती और पीपलकोट चौथान के शिक्षक श्री नारायणसिंह बिष्ट भी। इन चारों ने वन, वनवासी, वन्यजीवों को, अपने ही क्षेत्र की समस्याओं को, अपनी कमजोरी, अपनी शक्ति को समझने का एक प्रयास किया था। एक छोटे से गाँव का छोटा सा स्कूल अपनी पहाड़ जैसी विराट समस्याएँ नाप रहा था। किसी सरकारी आदेश के कारण नहीं, अपने भीतर की किसी तड़प के कारण।

इसी पदयात्रा में तय हुआ कि इस क्षेत्र में काम को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए एक संस्था बनाई जाए। मार्च 1982 में शिक्षा के इस अनोखे पहरेदारों ''दूधातोली लोक विकास संस्थान'' को गठित किया गया। स्थापना के समय ही कुछ बातें बिलकुल साफ ढंग से तय की गई थीं। अपने क्षेत्र में पर्यावरण संवर्धन का काम तो करना ही है पर इसमें संस्था का आधार वहीं के लोग तथा देशी साधन हो, इसका पूरा ध्यान रखा जाएगा। यह भी योजना बनी कि हर वर्ष कोई चार शिबिरों के माध्यम से यह सब काम किया जाएगा। जल्दी ही समझ में आ गया कि वनीकरण करना है तो अपनी जरूरत के पौधे भी तैयार खुद ही करने पड़ेंगे। संस्था बनाने में शिक्षकों की भूमिका प्रमुख थी, इसलिए आगे की योजनाओं में उनका ध्यान सबसे पहले अपने छात्रों की तरफ गया। तब स्कूलों में पर्यावरण संवर्धन एक विषय की तरह नहीं आया था। पर यहाँ तो यह पढाई का नहीं जीवन का एक अंग बन गया।

छात्रों ने अपने शिक्षको की प्रेरणा से तरह–तरह के बीजों का संग्रह प्रारंभ किया। सबसे पहले इन लोगों ने अखरोट के पौधों की एक नर्सरी बनाई। इन पौधों की बिक्री प्रारंभ हुई। वहीं के गाँवों से वहीं की संस्था को पौधें की बिक्री से कुछ आमदनी होने लगी। यह राशि फिर वहीं लगने जा रही थी। छोटे–छोटे साधनों से एक बड़े साध्य को साधने की एक लंबी यात्रा का प्रारंभ हुआ। एक के बाद एक शिबिर लगते गए और धीरे–धीरे उजड़ वन क्षेत्रों में वनीकरण होने लगा।

इन शिबिरों में रस्म पूरी यहीं की जाती थी। पूरा काम करने के लिए ये लगते थे, इसलिए कभी–कभी तो इनकी अवधि दस दिन तक भी होती। कभी ये वन क्षेत्र में लगते तो, कभी गाँव के स्कूल में, पंचायत भवन में। ध्यान रखा जाता कि स्थान सार्वजनिक हो ताकि सभी लोग इनमें आ सकें। शिबिर कहीं भी लगें, इनमें आसपास के पांच–दस गाँवो के स्त्री, पुरुष, बच्चों को जोड़ने की कोशिश होती थी। चूंकि शिबिरों का मुख्य विषय ही धास, जंगल, पानी, खेती आदि हुआ करता, इसलिए धीरे–धीरे इनसे महिलाएँ जुड़ती चली गई। फिर इन्ही शिबिरों में हुई बातचीत से यह भी निर्णय सामने आया कि हर गाँव में अपना वन बने। वह सधन भी बनें ताकि ईधन, चारे आदि के लिए महिलाओं को सुविधा बढ सके। इस तरह हर शिबिर के बाद उन गाँवों में महिलाओं के अपने नए संगठन उभरकर आए। ये 'महिला मंगल दल' कहलाए।

ये महिला दल कागज़ी नहीं थे। कागज़ पर बने ही नहीं थे। कई लेखा–जोखा, रजिस्टर, दस्तावेज नहीं। पूरे सच्चे मन से बने संगठन थे इसलिए शिबिर चलानेवाली मुख्य मानी गई संस्था दूधातोली के

कार्यालय में भी इनकी गिनती या ब्यौरा देखने नहीं मिलता। ऐसे महिला मंगल दलों की वास्तविकता तो उन गाँवों में धीरे–धीरे उँचे उठ रहे, सघन हो चले वनों से ही पता चल सकती थी।

अब पर्यावरण शिबिर वर्ष में चार बार लगते हैं पर उनसे जन्में महिला मंगल दल पूर वर्ष भर काम करते हैं। इन दलों की सदस्याएँ पर्वतीय जीवन की पूरी व्यस्तताओं के बाद भी महीने में प्रायः दो बार मिलती हैं। सबकी सुविधा से तय दिन और समय पर होनेवाली इन बैठकों में अपने गाँव की, आसपास के गाँवों की सार्वजनिक तथा साथ ही घरों की निजी समस्याओं पर भी आत्मीय वातावरण में चर्चा होती है। गाँव के वन की रक्षा व उसका संवर्धन महिला मंगल दल की मुख्य जिम्मेदारी होती है।

प्रतिदिन दल की सदस्याएँ बारी–बारी से वन की रखवाली करती हैं। रखवाली का तरीका अपने आपमें परिपूर्ण है। वह बाहर से किसी मदद, पैसे या आदेश की प्रतिक्षा नहीं करता। गाँव के वन के संवर्धन का प्रश्न अपने आप में इतना महत्वपूर्ण है कि उसक दूधातोली की संस्था ने किसी और के भरोसे पर नहीं छोड़ा है। यह प्रबंध बहुत ही सुरीला बनाया गया है।

एक लाठी है। लेकिन यह साधारण लाठी नहीं है। इसके उपरी सिरे पर बड़े आकार के दो–चार घूंघरू लगे रहे हैं। इस लाठी का नाम है खांकर। खांकर लेकर महिलाएँ वन में रखवाली करती हैं। हर कदम पर लाठी जमीन पर लगती है और खांकर के घूंघरू खनक जाती हैं। एक खांकर की संगीतमय ध्वनि वन की घनी चुप्पी को तोड़ती वन के दूसरे भागों में इसी तरह रखवाली कर रही अन्य महिलाओं को एक दूसरे से जोड़ रखती है। यह संगीतमय लाठी एक अन्य सुरीली व्यवस्था का भी अंग है। सांझ को वन की रखवाली के बाद महिलएँ गाँव वापस आती है और अपनी खांकर अपने घर के दरवाजे के आगे न रखकर किसी अन्य महिला के दरवाजे पर टिका देती हैं। इसका अर्थ है कल उस घर की महिला सदस्य खांकर लेकर वन की रखवाली के लिए निकलेगी। अपने बच्चों की तरह पाल पोसकर खड़े किए वनों की रखवाली, निगरानी, सार संभाल का यह घरेलू तरीका आज दूधातोली क्षेत्र के कोई 136 गाँवों में बड़े नियम से, स्वअनुशासन से चल रहा है। प्रायः पगडंडियों से बढे और पहाड़ों की चोटियों में, घाटियों में एक दूसरे से मीलों दूर बसे ये गाँव बिना बाहरी पैसे के, आदेश के अपने दस घर की सरगम से जुड़ते जा रहे हैं।

दूधातोली के पर्यावरण शिबिरों में खांकर का यह बीज रुपी संगीत पूरा वृक्ष बन जाता है। गाँव के छात्र–छात्रओं और स्वयं सेवकों की टोली गीत, संगीत और नृत्य से समाज की सब समस्याओं पर आत्मीय वातावरण में बातचीत करने, उनका हल खोजने और फिर अपने ग्राम स्तर पर व्यक्तिगत और सामूहिक काम का सुंदर निर्विरोध वातावरण बनाती है।

इन शिबिरों का आयोजन हमेशा बड़ी सरलता से होता रहा है – ऐसा नहीं है। बीच के कई वर्ष बड़ी कठिनाई के वर्ष थे। कहीं से भी कोई मदद नहीं थी। पर शिबिरों की और काम की कड़ी कभी टूटने नहीं दी गई। गाँवों ने अपने सीमित साधनों से इस असीमित काम को जारी रखने की बराबर कोशिश की। फिर सन् 1979 से अल्मोड़ा की संस्था ''उत्तराखंड सेवा निधि'' के सहयोग से शिबिर और अधिक नियमित और व्यापक होने लगे।

पहाड़ों में पिछली एक सदी में वनों को लेकर काफी चिंता और उसके कारण समय–समय पर आंदोलन भी हुए हैं। ये आंदोलन अंग्रेजों के समय भी हुए और फिर आजादी के बाद भी जारी उन्हीं की नीतियों के कारण यह असंतोष बराबर आता रहा है।

सत्ता के दशक में चिपको आंदोलन के रूप में यह चिंता सबसे शक्तिशाली रूप में सामने आई। श्री चंडीप्रसाद भट्ट के नेतृत्व में प्रारंभ इस आंदोलन ने संधर्ष, सत्याग्रह के साथ अपना रचनात्मक पक्ष भी सामने रखा था। भारतीजी की प्रारंभिक प्रशिक्षण चिपको आंदोलन की मातृसंस्था दशोली ग्राम स्वराज्य मंडल के आंगन में ही हुआ था।

इसलिए प्रारंभ में दूधातोली में वनों को कटने से बचाने का आंदोलन भी चला और फिर वनों के संवर्धन का भी काम लगातार बढ़ता गया। पानी का काम इस प्रयासों में एक नया अध्याय लेकर आया। 1993 में प्रारंभ में सच्चिदानंद भारती ने अपने क्षेत्र में वनों के साथ पानी की परंपरा को भी समझना प्रारंभ किया। पहाड़ों में ताल तो आज भी हैं पर इनकी संख्या तेज ढलानों के कारण कम ही रही हैं। पर खाल और चाल नामक दो और रूप भी यहाँ रहे हैं। वे पिछली सदी में लगभग मिट गये थे। दूधातोली का उफरैंखाल नाम स्वयं इस बात का प्रतीक था कि कभी यहाँ पानी का अच्छा प्रबंध रहा होगा। खाल ताल से छोटा रूप है तो चाल खाल से भी छोटा है। ये उँचे पहाड़ों की तीखी ढलानों पर भी बनती रही हैं।

सच्चिदानंद भारती ने 1993 में पानी की कमी और उससे जुड़ी अनेक समस्याओं को समझा और वनों के संवर्धन के साथ पहाड़ों में जल संरक्षण के काम को जोडा। एक से एक जुड़ा तो योग दो न होकर ग्यारह हो गया। इकाई से इकाई मिली और दहाई परिणाम सामने आने लगे।

दूधातोली के क्षेत्र में चाल बनाने का काम गाडखर्क गाँव से, उफरैंखाल से प्रारंभ हुआ पर फिर तो यह जंगल की आग की तरह फैलने लगा। आज इस क्षेत्र में कोई 35 गाँवों में खाली पड़ी बंजर धरती पर, पानी की कमी सक उजड़ गए खेतों में और अच्छे घने वनों तक में कोई 7000 चालें वर्षभर चांदी की तरह चमकती हैं। उत्तरांचल में जब 1999–2000 में सभी जगह पानी की बेहद कमी थी, अकाल पड़ रहा था तब दूधातोली क्षेत्र में अप्रैल, मई, जून के महीने में भी चालों में लबालब पानी भरा रहा है।

चालों के चलन की फिर से वापसी से इस क्षेत्र में अनेक परिवर्तन किए हैं। उजड़े खेतों में फिर से फसल लगने की तैयारी हो रही है। बंजर वन भूमि में सालभर पानी रहने के कारण प्रकृति स्वयं अपने अनेक अदृश्य हाथों से उसमें घास और पौधे लगा रही है तो ठीक पनपा चुके वनों में और अधिक सघ ानता आ रही हैं। घास, चारा, ईधन और पानी – इनके बिना पर्वतीय व्यवस्था चरमरा गई थी। आज यहाँ फिर से जीवन का मधुर संगीत वापस लौटा रहा है। ''घास, चारा, पानी के बिना योजना कानी'' का नारा भी यहाँ लगता है।

चाल का जो काम जंगलों में आग की तरह फैला है, उसने जंगलों की आग को भी समेटने में अद्‌भुत भूमिका निभाई है।

उत्तरांचल और देश के अन्य पर्वतीय क्षेत्रों में हर वर्ष गरमी के महीनों में वनों में बड़े पैमाने पर आग लगने की घटनाएँ होती हैं। इन्हें बुझाने का कोई कारगर तरीका अभी तक वन विभाग के हाथ नहीं आया है। जब भी इस विषय पर बहस होती है तो वन विभाग यूरोप, अमेरिका के वन क्षेत्रों का उदाहरण देकर हैलिकॉप्टरों के उपयोग की वकालत करता है।

वनों में आग एक बड़ी समस्या है। वर्षा के दिनों में बरसा पानी पहाड़ की चोटियों से नीचे घाटी में, नदी में चला जाता है। फिर ठंड का मौसम तो ठीक बीतता है पर गरमी की ॠतु आते ही सारा वन क्षेत्र तप जाता है। घास सूख जाती है और वन के वन सूखी घास के ढेर पर बस एक जरा सी चिनगारी का इंतजार करते रहते हैं। मई 1998 में तबके उत्तराखंड में कोई 80,000 हेक्टेयर वन क्षेत्र आग में स्वाहा हुआ था। आज देश में प्रतिवर्ष वनों की आग से कोई 450 करोड़ रूपए की हानि होती है। लेकिन कीमती वन, पेड, पौधे, घास, चारा और वन्यजीव उस नुकसान को आप सरकारी आंकड़ों में, रूपयों में नहीं नाप सकते। प्रकृति की वर्षो की मेहनत, समाज के लिए पीढियों की सुविधा, अकाल, बाढ़ से रक्षा का सर्वोत्तम कवच सब कुछ देखते ही देखते राख हो जाता है।

दूधातोली में जब से पानी का, चाल और खाल का काम प्रारंभ हुआ है, तब से यहाँ के वन आग से सुरक्षित हो चले हैं। सभी ग्राम वनों में बनी चालों के कारण उनमें गर्मी के तपते मौसम में भी नमी और इस कारण हरियाली बनी रहती है, आग नहीं लग पाती। कहीं आग लग भी जाए तो यह लाचारी नहीं होती कि अब इसे कैसे बुझाया जाए। भरनों गाँव के अपने पाले वन में, मई 1998 में आग जरूर लगी थी पर चालों की उपस्थिति के कारण वह जल्दी ही नियंत्रण में आ गई थी। पर इसी गाँव के पास का सरकारी वन आग से बच नहीं पाया था। इसी तरह जन्द्रिया गाँव का सरकारी वन भी आग की भेंट चढ़ा था। यहाँ वन विभाग वनों को आग से बचाने की अपील करनेवाले बोर्ड लगाने तो आता है पर आग बुझाने नहीं आ पाता। इन गाँवों में लोगों ने चाल बनाकर अपने वन सुरक्षित किए हैं और शासकीय वनों में लगी आग को अपनी चालों के पानी से बुझाने का प्रयास भी किया है। सन् 1998 की मई में ऐसे प्रयासों में गाँव की तीन महिलाएँ आग बुझाते हुए स्वयं झुलस गई थी और फिर उन्हें बचाया नहीं जा सका था।

इन चालों ने या अब जिन्हें यहाँ जल तलाई भी कहा जाने लगा है, गाँव में शासकीय जल प्रदाय योजनाओं को भी नया जीवन दिया है। उत्तरांचल के अनेक गाँव में पानी की कमी होने लगी है। हिमालय पानी का, नदियों का मायका भी कहलाता है। पर पानी के मायके में ही पानी नहीं बच पाता था। ''स्वजल'' जैसी खर्चीली योजनाओं ने भी पैसा खूब बहाया पर पानी नहीं बह पाया है। एक सीमित क्षेत्र में ही सही पर लोगों के द्वारा बनाई चालों ने यहाँ पानी का प्रश्न हल करके दिखाया है। अब पूरे वर्ष भर पानी खूब है। चालोंने सूख चूके नालों को, छोटी नदियों को, गदेरों को भी सरस कर दिया है।

उफरैंखाल के वन सक निकलने वाली सूखारौला नदी वर्षा में उफन जाती थी और फिर नवम्बर में ही सूख जाती थी। इसलिए इसका नाम ही सूखारौला पड़ चुका था। यहाँ सन् 1993 से 1998 तक कोई 1000 जल तलाई बनी होगी – इस सबमें संचित जल की एक–एक बूंद ने सूखारौला का स्वभाव बदला। उसमें सूखे दिनों में भी पानी था। पर गाँव ने धीरज रखा, एकदम नाम नहीं बदला। जब जनवरी 2001 में भी सूखारौला सूखा नहीं तो कृतज्ञ गाँव ने इसका नया नाम रखने का निर्णय लिया।

क्या होगा नया नाम? नया नाम रखना कोई आसान काम नहीं था। पर इस कठिन काम को गाँव ने अपने श्रद्धा से गंगा के साथ जोड़ना ही उचित समझा। गाँव का नाम गाडखरक तो नदी हो गई गाडगंगा। आज गाडगंगा वर्षभर बहती है और फिर पसोल नदी में मिलकर उसे और भी समृद्ध कर रही है।

हिमालय के इन गाँवों को उदारता से इतना बडा लाभ बाँटने वाली चाल स्वयं बहुत ही छोटी होती है। इस छोटेपन में ही इसका बड़प्पन छिपा है। जहाँ भी ठीक जगह मिली वहाँ 5 से 10 घनमीटर के आकार की जल तलाई बनाई जाती है। यह अपने आप में कोई चमत्कार नहीं कर सकती। चमत्कार जल तलाई की श्रृखंला में छिपा है। जब उपर से नीचे तक पूरे ढलान को अनेक जल तलाई अपने छोटे–छोटे आकर से ढक देती है तब पानी का अक्षय भंडार बन जाता है। पानी पहाड़ी ढलानों में यहाँ–वहाँ से बहता है इसलिए जल तलाई भी यहाँ–वहाँ ही बनाई जाती हैं और इस तरह हर जगह पानी एकत्र होता जाता है। इन सबमें संग्रहीत पानी धीरे–धीरे रिसकर नीचे घाटी तक आता है। यहाँ घाटी में चालों से बडे ढांचे, यानी खाल या ताल बनाए गए हैं। इनमें भी अब पूरे वर्ष पानी का भंडार बना रहता है।

तलाई के पास प्रायः उतीस के पेड़ लगाए गए हैं और किनारों पर चामूल्य घास। घास बढ़ती है तो चारे के लिए उसे काट लिया जाता है। उतीस के सालभर चारा मिलता है और घास से मौसम में ।

चाल छोटी हैं आकार में, और लागत में भी। कोई 50 से 100–200 रूपए में एक चाल बन जाती है। बनाने वाले इसे अपना काम मान कर बनाते हैं। इसलिए 50–100 की मदद भी कम नहीं मानते। वे इसे बनाते समय अपने को किसी का मजदूर नहीं मानते। वे इसके मालिक हैं और उनके स्वामित्व से सामाजिक समृद्धि साकार होती है।

ऐसी सुदृढ़ समृद्धि पूरे समाज का आत्मविश्वास बढ़ाती है। उनका माथा उँचा करती है। तब यदि अचानक कोई बड़ी लेकिन अव्यवहारिक योजना वहाँ अचानक आ जाए तो लोगो के पैर नहीं डगमगाते।

एक ऐसी ही योजना सन् 1998 में इस क्षेत्र की पूर्वी नयार घाटी में आई थी। जलागम विकास का काम था। समर्थन या विश्व बैंक जैसी संपन्न संस्था का। पर इन गाँवों ने उसका समर्थन नहीं किया।

काम तो वही था जिसे ये गाँव कर ही रहे थे – वनों का विकास। जलागम क्षेत्र का विकास। पैसे की कोई कमी नहीं थी। पूरी परियोजना की लागत 90 करोड़ रूपए थी। गाँव–गाँव में जब इस योजना का बखान करने वाले बड़े–बड़े बोर्ड लग गए तब सच्चिदानंद भारती ने वन विभाग के जिम्मेदार अधिकारियों को एक छोटा सा पत्र भर लिखा था। उसमें उन्होंने बहुत विनम्रता से बताया था कि इस क्षेत्र में वनों का, पानी का अच्छा काम गाँव खुद ही कर चुके हैं – बिना बाहरी, विदेशी या सरकारी मदद के। तब ''यहाँ'' इन 90 करोड़ रूपयों से और क्या काम करने जा रहे हैं आप? भरोसा न हो तो कुछ अच्छे अधिकारीयों का एक दल यहाँ भेजें, उससे जाँच करवा लें और यदि हमारी बात सही लगे तो कृपया इस योजना को यहाँ से वापस ले लें।

शायद देश में पहली बार ही ऐसा हुआ होगा कि सचमुच वन विभाग का एक दल यहाँ आया और इस क्षेत्र में पहले से ही लगे, पनमे और पाले गए सुंदर घने वनों को देख न सिर्फ चुपचाप लौट गया, बल्कि अपने साथ 90 करोड़ की योजना भी समेट ले गया।

वनों के गाँव, हिमालय के कुछ थोड़े से गाँव तय कर लें तो वे बिना बाहरी मदद, विदेशी पैसे, सरकारी पैसे के अपने और अपने थोड़े से शुभचिंतकों के सहारे से कोई एक शताब्दी की गलतियों को 20 वर्षो में सुधार कर कितना बड़ा काम खड़ा कर दिखा सकते हैं। इसमें केवल उत्तरांचल ही नहीं सभी पर्वतीय क्षेत्रों के सुधार के बीच छिपे हैं।

पर्वत जैसे इस साध्य को पाने के लिए दूधातोली लोक विकास संस्थान के कार्यकर्ताओं ने साधनों के संबंध में भी एक अलग ही साधना की है। 136 गाँवो में ऐसा सुंदर काम करने वाली संस्था में केवल चार कार्यकर्ता हैं।

प्रमुख हैं श्री सच्चिदानंद भारती। ये उफरैंखाल के इंटर कालेज में शिक्षक हैं। वेतन शिक्षा विभाग से मिलता है। बच्चों को प्रेम से पढ़ाते हैं और बचे हुए समय में पूरे समय ही समाजसेवा करते है। भारती ने शिक्षा को समाज की सेवा की पगडंडी को सचमुच छोटे से स्कूल की चार दीवारी से बाहर निकाल पूरी पट्टी में नीचे घाटियों से लेकर उपर की चोटियों तक फैलाया है।

दूसरे कार्यकर्ता श्री दिनेश हैं जो संस्था के अब मंत्री है। ये उफरैंखाल गाँव में ही दवाओं की एक छोटी सी दुकान चलाते है। जब भी समाज का, संस्था का काम आता है, वे दवा की दुकान का शटर गिराकर सेवा का द्वार खोल लेते है। वे भी संस्था से वेतन नहीं लेते।

तीसरे कार्यकर्ता श्री दीनदयालजी। वे जीविका के लिए डाकिये का काम करते हैं। डाक भी बांटते है और साथ–साथ दूधातोली संस्थान के माध्यम से लोगों का दुख दर्द भी बाँट लेते हैं। अपने क्षेत्र के पर्यावरण के संवर्धन का पाती, चिट्ठी भी दूर दूर पैदल पहुँचाते हैं। और उनकी इस पाती को सब पढ़ते हैं।

चौथे हैं विक्रमजी। ये भी गाँव डुलमोट में अपनी पैतृक दुकान का काम देखते हैं।

फिर कोई सौ गाँव में फैले है संस्था के स्वयं सेवक। इनकी संख्या होगी लगभग एक हजार। इनमें उन महिलाओं की संख्या कोई पांच सौ होगी जो सुबह से शाम तक खांखर लेकर अपने वनों की रखवाली करती हैं।

संस्था के खर्च, इतने बड़े काम के लिए साधन जुटाने में भी भारती ने पहले ही दिन से विदेशी पैसा न लेने का नियम पक्का कर लिया था। और भी समाज सेवी संस्थाएँ ऐसा करती हैं। फिर समय के साथ–साथ जरूरत पड़ने पर नियम को तोड़ भी लेती है। दूधातोली में यह नियम अभी तक टूटा नहीं है।

साधनों को जुटाने और उन्हें इतनी किफायत से खर्च करने का असर दूसरों पर भी पड़ता है। संस्था रजिस्टर्ड है। हर वर्ष उसे अपने आमदनी और खर्च का आडिट करना पडता है। लेकिन इस काम को

करनेवाले आडिटर संस्था के लिए अपनी सेवाएँ निशुल्क देते हैं। संस्था भी पूरी आडिट रिपोर्ट अपने क्षेत्र के छोटे बडे अखबारों में वितरित कर देती है। वे इसे छापकर सार्वजनिक बना देते है। सार्वजनिक काम की जानकारी सार्वजनिक हो जाती है।

वर्षभर में औसत 50,000 के किफायती बजट से यह छोटी सी संस्था संभवतः कोई 50 लाख का काम तो करती ही है। पर इस काम का वास्तविक मूल्य कुछ करोड़ में जाना चाहिए।

इस क्षेत्र के ये गाँव कोई 4000 फुट से 7000 फुट की उँचाई पर बसे है। साल भर मौसम खूब ठंडा रहता है। ठंड के मौसम में अधिकांश भाग बर्फ की चादर से ठंक जाते है। ऐसे ठंडे क्षेत्रों में वनस्पति का विस्तार भी बहुत धीरे–धीरे होता है। और किमती उपजाउ मिट्टी भी धीरे–धीरे ही बन पाती है। लेकिन तीखी ढलानों के कारण वर्षा के मौसम में इस कीमती मिट्टी को नीचे मैदानों की ओर बहने में जरा भी देरी नहीं लग पाती। तेज बहता पानी अपने साथ और भी तेजी से मिट्टी काटकर, बहाकर ले जाता है। ऐसे में मिट्टी और पानी का संरक्षण दो–चार साल का नहीं, कुछ सदियों का काम बन जाता है।

दूधातोली का यह काम इसलिए बहुत ही धीरज के साथ खड़ा किया गया है। इसमे लक्ष्य संख्या, आंकड़ों या पैसों, रूपयों का नहीं, चुपचाप काम का रखा गया है। इसलिए दूधातोली का यह दल शायद ही कभी अपना क्षेत्र छोड बाहर निकल पाता है। बाहर के लोग, कुछ मित्र, शुभचिंतक यहाँ कभी–कभी ही आ पाते है। तब उनका बहुत ही आत्मीय स्वागत होता है। देवपूजन में काम आनेवाली पैंया की पत्ती की सादी लेकिन भव्य माला में बुरांस का एकाध फूल पूरे गाँव की आतिथ्य भावना को आनंद में बदल देता है। खेत और वनों के फूल शिबिरों को नए ढंग से रंग देते है। संगीत टुकडी का स्वर, ढोल नगाडे, रंगसिंगे पूरी घाटी में गूंजने लगते हैं। मिट्टी और पानी को ''परदेस'' जाने से रोकने के लिए।